आत्म विकास का तुलनात्मक अध्ययन

साध्वी सुदर्शनाश्रीजी, एम. ए.

चार्वाक को छोड़कर शेष सभी भारतीय दर्शन मोक्ष को आत्म विकास की सर्वोच्च स्थिति मानते हैं, किन्तु मोक्ष तक पहुंचने के पहले उसका क्रम-विकास कैसे होता है, इस पर विभिन्न दार्शनिकों के भिन्न-भिन्न विचार दृष्टिगत होते हैं।

आत्मा के आध्यात्मिक विकास के पूर्व भौतिक-विकास के संबंध में जैन दर्शन की क्या मान्यता है इस पर भी थोड़ा जिक्र कर देना अप्रासंगिक न होगा।

जैनागमों में जिस तरह आध्यात्मिक विकास क्रम का विवेचन किया गया है, उसी प्रकार भौतिक विकास का भी जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति, तिलोयपण्णत्ति, आवश्यकचूर्णि आदि ग्रंथों में सुस्पष्ट एवं क्रमबद्ध वर्णन पाया जाता है।

वैसे तो, विकास के विभिन्न प्रकार हैं। उदाहरण के तौर पर शरीर से संबंधित विकास, शारीरिक विकास, मन से संबंधित विकास, मानसिक विकास और आत्मा से संबंधित विकास, आत्मिक विकास इत्यादि। किन्तु मुख्य रूप से व्यक्ति का विकास दो तरह से हो सकता है—एक तो भौतिक और दूसरा आध्यात्मिक। जैनदर्शन भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों प्रकार के विकास को मानता है।

भौतिक विकास याने उत्कर्ष-अपकर्षमय काल चक्र। यह काल चक्र जैन दर्शन में अनवरत क्रम से गतिशील माना गया है। इस अनवरत काल चक्र (भौतिक विकास) को "उत्सर्पिणीकाल" और अवसर्पिणी काल दो भागों में विभक्त किया गया है

इस तरह जैन दर्शन के अनुसार उत्सर्पिणी को विकासोन्मुख काल कहते हैं। इसमें मनुष्य की आयु, बल, शक्ति, धन, सुख आदि क्रमशः अपना विकास करते रहते हैं। अवसर्पिणी को ह्रासोन्मुखकाल कहते हैं। इसमें मनुष्य का शरीर, बल, शक्ति आय आदि का क्रमगत ह्रास होता रहता है। इस प्रकार समय के अनुसार मनुष्य का क्रम-विकास (भौतिक विकास) होता रहता है। जैसे आध्यात्मिक विकास की चौदह श्रेणियां विभाजित हैं वैसे ही भौतिक विकास (उत्कर्ष-अपकर्ष काल) को भी छह-छह वर्गों में बांटा गया है।

अवसर्पिणीकाल:—(१) सुषम सुषम (२) सुषम (३) सुषमा दुषम (४) दुषम सुषम (५) दुषम (६) दुषमा दुषम।

उत्सर्पिणीकाल:—(१) दुषमादुषम (२) दुषम (३) दुषमा सुषम (४) सुषमा दुषम (५) सुषम (६) सुषमा सुषम।

इस तरह इस पूरे काल चक्र (भौतिक विकास) को बारह आरों में वर्गीकृत किया गया है। यह भौतिक विकास अनादिकाल से चला आ रहा है एवं अनन्त काल तक चलता रहेगा।

आधुनिक विज्ञान भी विकासवाद को मानता है, लेकिन वह आध्यात्मिक विकास को नहीं मानता। इस संदर्भ में पाश्चात्य दार्शनिक डारविन का विकासवाद उल्लेखनीय है। उसके विकासवाद में सूक्ष्म जन्तुओं में से मनुष्य तक के स्वरूप का निर्माण कैसे हुवा। इस संबंध में प्रकाश जरूर डाला गया है किन्तु सूक्ष्म जन्तुओं से लेकर मानव पर्यन्त जो विकास क्रम बताया गया है उसमें महज विकास का वर्णन है, पतन के लिए कोई स्थान या अवकाश नहीं है। किन्तु जैन दर्शन के आध्यात्मिक विकास में ऐसी स्थिति नहीं है। जैन दर्शन में विकास का प्रारंभ होने के बाद भी पतन के प्रसंग अनेक बार आते हैं और आत्मा ग्यारहवें गुणस्थान में पहुंचकर भी पतित हो जाती है। अतः जैन दर्शन का आत्म-विकास का सिद्धान्त आरोह-अवरोह का है, जबकि डारविन का विकासवाद आरोह का होने के कारण एकांगी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। वह सिर्फ उत्क्रान्ति की ही चर्चा करता है, पतन की नहीं।

सरल और स्पष्ट शब्दों में यदि कहना चाहें तो कह सकते हैं कि डारविन का विकासवाद बन्दर से मानव बनने की शक्ति को तो स्वीकार करता है लेकिन मानव से बन्दर बनने को स्वीकार नहीं करता। इतना ही नहीं, उसके इस विकासवाद में आत्मा को कोई स्थान नहीं दिया गया है और आत्मा को स्थान नहीं देने से पुनर्जन्म, कर्म आदि के संबंध में विचार नहीं किया गया है। इस तरह डारविन का विकासवाद अधूरा है, जबकि जैन दर्शन के आध्यात्मिक विकास में आत्मा को प्रमुख स्थान दिया गया है और आत्मा को प्रमुखता देने से पुनर्जन्म, कर्म इत्यादि विचार आत्मा से जुड़ा हुवा है।

इस तरह डारविन का सिद्धान्त पुद्गल निर्मित शरीर के अंगोपांग से संबंधित है, जबकि जैन दर्शन का विकास का सिद्धान्त अरिहन्त निर्देशित आत्मा के आध्यात्मिक विकास-क्रम से संबंधित है और वह आत्मा के गुणों को स्पर्श करता है एवं उसकी उत्क्रांति तथा अवनति दोनों का विचार करता है। इस प्रकार जैन दर्शन में आत्मा उत्थान-पतन के अनेक चक्र अनुभव करने के पश्चात् आगे बढ़ती है और अन्ततोगत्वा मुक्ति पद प्राप्त करती है।

अब हम तुलनात्मक दृष्टि से आत्मा के आध्यात्मिक विकास क्रम पर संक्षेप में विचार करेंगे।

जैनागमों में आत्म-विकास का क्रम बहुत ही सुव्यवस्थित रूप में मिलता है। उनमें आत्मिक-स्थिति अथवा जीवन-विकास की चौदह भूमिकाएं बतलाई गई हैं जो "गुणस्थान" के नाम से संबोधित हैं।

"गुणस्थान" से आशय जैन दर्शन में न तो भौगोलिक स्थान से है, और न एवरेस्ट पर्वत से है वरन् गुणस्थान का संबंध आत्मा से है। "गुणस्थान" शब्द जैन दर्शन का एक पारिभाषिक शब्द है। गुणस्थान दो शब्दों से मिलकर बना है—गुण और स्थान। "गुण" से तात्पर्य न सांख्य दर्शन के त्रिगुण—सत्व, रजस् और तमस् से है और न साहित्य के माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों से है अपितु जैन दर्शन में "गुण" से तात्पर्य आत्मा के गुणों से या आत्मा की शक्तियों से है। दर्शन, ज्ञान, चारित्र आत्मा के गुण हैं। "गुणस्थान" में दूसरा शब्द है "स्थान"। "स्थान" अर्थात् उन गुणों के विकास करने की अवस्था।

इस प्रकार "गुणस्थान का शाब्दिक अर्थ हुवा "आत्मा के गुणों के विकास करने की विविध अवस्थाएं"। एतदर्थ जैनागमों में आध्यात्मिक विकास का क्रम बताने वाले गुणस्थानों का वर्णन प्रतिपादित है। जैसे मानव की विविध अवस्थाएं होती हैं और उसमें क्रम होता है—शैशवास्था, युवावस्था, वृद्धावस्था। उसी तरह आध्यात्मिक विकास में भी क्रम होता है—पहली अवस्था, दूसरी अवस्था इत्यादि। "अवस्था को स्थिति, सोपान, भूमिका आदि भी कह सकते हैं।

जैन दर्शन में आत्मा के आध्यात्मिक विकास क्रम के लिए चौदह विभाग किए गए हैं अर्थात् मोक्ष महालय में प्रवेश करने के लिए चौदह सीढ़ियां जैनागमों में वर्णित हैं। किन्तु ये सीढ़ियां ईंट, चूने या पत्थर की बनी हुई नहीं हैं अपितु आत्मिक-विकास की ओर ये सीढ़ियां चौदह ही हैं न कम न ज्यादा। जैसे—चक्रवर्ती के चौदह रतन होते हैं, पन्द्रहवां नहीं होता, क्लास सोलह होती हैं, सत्रहवीं नहीं, तिथि पन्द्रह होती हैं उसी प्रकार आत्म-विकास के लिए भी चौदह अवस्थाएं (गुणस्थान) है जिनके नाम समवायांगसूत्र एवं द्वितीय कर्म ग्रन्थ की गाथा में निम्नलिखित हैं:—

चोद्दस जीव ठाणा पण्णत्ता— तं जहा मिच्छ दिट्ठी सासायण सम्मदिट्ठी, सम्ममिच्छ दिट्ठी, अविरय सम्मदिट्ठी, विरयाविरए पमत्त संजए, अप्पमतसंजए, नियट्ठी—अनियट्टिबायरे, सुहुमसंपराए उवसमए वा खवए वा, उवसंतमोहे, सजोगी केवली, वा अजोगी केवली।

गुणस्थान १४ वां

मिच्छे सासण, मीसे, अविरय पमत्त अपमत्ते
मिअट्ठी अनिअट्ठि, सुहुमुवसम— खीण सजोगि अजोगि गुणा

—कर्म ग्रन्थ द्वितीय, गाथा-२

(१) मिथ्यात्व गुणस्थान
(२) सास्वादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान
(३) सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान
(४) अवरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान
(५) देशविरति गुणस्थान
(६) प्रमत्तसंयत गुणस्थान
(७) अप्रमत्तसंयत गुणस्थान
(८) निवृत्तिवादर गुणस्थान
(९) अनिवृति बादर गुणस्थान
(१०) सूक्ष्म सांपराय गुणस्थान
(११) उपशान्तमोह गुणस्थान
(१२) क्षीणमोह गुणस्थान
(१३) सयोगी केवली गुणस्थान
(१४) अयोगी केवली गुणस्थान

उपर्युक्त ये चौदह गुणस्थान ही आध्यात्मिक-विकास के चौदह अनमोल रत्न हैं। जैन दर्शन में इस आध्यात्मिक विकास-क्रम का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। क्रम का परिबोध होने से आत्मा की उत्कर्ष-अपकर्षमय अवस्थाओं का परिज्ञान हो सकता है और इससे आत्म-विकास की साधाना में बड़ी सहायता मिलती है।

जैन दर्शन की तरह अन्य दर्शनों मे भी आध्यात्मिक विकास की विभिन्न अवस्थाएं बतलाई गई हैं, किन्तु जैन दर्शन में आध्यात्मिक दृष्टि से गुणस्थानों का जितना सूक्ष्म, सुन्दर और रोचक ढंग से विस्तृत विवेचन किया गया है उतना अन्यत्र नहीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आजीविक सम्प्रदाय में आध्यात्मिक विकास की अष्ट भूमिकाएं थीं, मज्झिमनिकाय की बुद्धघोषकृत सुमंगला विलास की टीका में ऐसा उल्लेख मिलता है । इन आठ भूमिकाओं के नाम निम्नलिखित हैं :

(१) मंद भूमिका
(२) खिड्डा या क्रीड़ा भूमिका
(३) पदवी मंसाभूमिका
(४) उजुगत ऋजुगत भूमिका
(५) शेख शैक्ष भूमिका
(६) समण-श्रमण भूमिका
(७) जिन भूमिका
(८) पन्नप्राज्ञ भूमिका

उपर्युक्त ये आठ भूमिकाएं युक्तिसंगत न होने से जैन दर्शन के आध्यात्मिक विकास के साथ इनका मेल नहीं बैठता ।

बौद्ध ग्रन्थ पिटक में भी जैन दर्शन की तरह आध्यात्मिक विकास का स्पष्ट एवं सुव्यवस्थित रूप से अनेक जगह वर्णन किया गया है । बौद्ध दर्शन अनात्मवादी है । वह आत्मा की नित्यता (सत्ता) को स्वीकार नहीं करता । उसके अनुसार आत्मा परिवर्तनशील है । संसार के प्रत्येक पदार्थ क्षणिक हैं, नश्वर हैं फिर भी, पिटक में व्यक्ति का आध्यात्मिक-विकास क्रम बताने के लिए छह अवस्थाएं प्रतिपादित की गई हैं:–

(१) अंधपुथुज्जन : अंध पुथुज्जन उसे कहते हैं जिसे कार्य, दर्शन या सत्संग प्राप्त नहीं हुआ है और जो मोक्ष मार्ग से पराङ्मुख है ।

(२) कल्याणपुथुज्जन : जिसे आर्य दर्शन या सत्संग तो प्राप्त हुआ है किन्तु जो मोक्ष मार्ग से **पराङ्मुख** रहता है ऐसे व्यक्ति को कल्याणपुथुज्जन कहते हैं ।

बौद्ध दर्शन में "पुथुज्जन" से तात्पर्य सामान्य मनुष्य से है । अंध पुथुज्जन और कल्याण पुथुज्जन दोनों "पुथुज्जन" के ही दो भेद हैं । ऊपर के दोनों प्रकार के व्यक्ति दशविध संयोजनाओं में से एक भी संयोजना का क्षय नहीं कर पाते । बौद्ध दर्शन में "संयोजना"से मतलब बन्धन से है ।

(३) सोतापन्न : जिन्होंने दस संयोजनाओं में से तीन संयोजनाओं का क्षय कर दिया हो वे सोतापन्न कहलाते हैं ।

(४) सकदागमी : जिन्होंने दस संयोजनाओं मे से तीन संयोजनाओं का क्षय कर दिया हो और दो को शिथिल कर डाला हो, वे सकदागामी कहलाते हैं ।

(५) ओपपातिक : जिन्होंने दस संयोजनाओं मे से पांच संयोजनाओं का क्षय कर दिया हो, वे ओपपातिक कहलाते हैं ।

(६) अरहा : जिन्होंने दसों संयोजनाओं का क्षय करके श्रेष्ठ व्यक्तित्व प्राप्त किया हो, वे "अरहा" कहलाते हैं । अरहा की अवस्था को प्राप्त हुए व्यक्ति निर्वाण को पा लेते हैं ।

उपर्युक्त स्थितियों के वर्णन से ऐसा लगता है कि जैसे बौद्ध दर्शन ने आध्यात्मिक विकास की छह स्थितियों का वर्णन जैन दर्शन में बताए गए चौदह गुणस्थान के आधार पर किया हो । जिस प्रकार जैन दर्शन में मोहनीय कर्म के क्षय, उपशम और क्षयोपशम की प्रधानता है । बौद्ध दर्शन में भी संयोजना के क्षय की प्रधानता है । इसके साथ ही जैन दर्शन में जैसे-प्रथम भूमिका मिथ्यादृष्टि की है उसी प्रकार बौद्ध दर्शन में भी आध्यात्मिक विकास की प्रथम भूमिका अंध-पुथुज्जन की है । जैन दर्शन में तेरहवीं और चौदहवीं भूमिका सयोगी और अयोगी केवली की है वैसे ही, बौद्धदर्शन में भी छटवीं भूमिका अरहा की है ।

इतना साम्य होने के बावजूद भी प्रथम और अंतिम गुणस्थानों के बीच की भूमिकाओं का, आत्मा के आध्यात्मिक-विकास का, जो सुव्यवस्थित निरूपण जैन शास्त्रों में मिलता है वह बौद्ध दर्शन में परिलक्षित नहीं होता ।

मोक्ष की साधना के लिए योग दर्शन के प्रणेता महर्षि पातंजल ने योगशास्त्र के महाभाष्य में चित्त की पांच वृत्तियों (भूमिकाएं) के विकास-क्रम का वर्णन किया है । वे निम्नलिखित हैं––
१. क्षिप्त, २. मूढ़, ३. विक्षिप्त, ४. एकाग्र, ५. निरुद्ध ।

उपर्युक्त भूमिकाएं चित्तवृत्ति के आधार पर योजित हैं इसलिए इनमें आत्मा को प्रमुखता नहीं दी गई है । योग दर्शन में कहा गया है–"योगश्चित्तवृत्ति निरोधः" अर्थात् (योग) चित्तवृत्ति के निरोध को कहते हैं ।

जैन दर्शन की भाषा में "योग" को आध्यात्मिक विकासक्रम की भूमिका कह सकते हैं । आध्यात्मिक विकास की पहली क्षिप्तावस्था में चित्त सांसारिक वस्तुओं में चंचल रहता है । दूसरी मूढावस्था में चित्त की स्थिति निद्रा के समान अभिभूत रहती है

तीसरी विक्षिप्तावस्था में चित्त कुछ शान्त रहता है लेकिन पूरी तौर से शान्त नहीं रहता ।

चौथी एकाग्रावस्था में चित्त किसी ध्येय में केन्द्रीभूत रहता है । और चरमावस्था निरुद्ध की हैं जिसमें चिन्तन का भी अन्त हो जाता है ।

चित्त की इन पांच भूमिकाओं में से प्रथम दो आत्मा के अविकास की सूचक हैं, तीसरी विक्षिप्त भूमिका विकास और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अविकास के सम्मिश्रण की सूचक है और चौथी विकास की तथा अंतिम में पूर्ण उत्कर्ष पर आत्मा पहुंच जाती है। इस प्रकार इन पांच भूमिकाओं के बाद की भूमिका को मोक्ष कहा गया है।

योगवासिष्ठ में भी आत्मा की स्थिति के दो वर्गीकरण किए गए हैं :–अज्ञानमय और ज्ञानमय। अज्ञानमय स्थिति को अविकासकाल और ज्ञानमय स्थिति को विकासकाल कहा गया है। अज्ञानमय (अविकासकाल) स्थिति के भी सात भेद हैं :––

(१) बीज जागृत, (२) जागृत, (३) महाजागृत, (४) जागृत स्वप्न, (५) स्वप्न, (६) स्वप्न जागृत, (७) सुषुप्तक।

योगवासिष्ठ के उत्पत्ति प्रकरण के अध्याय ११८ में सात प्रकार की ज्ञानमय (विकास काल) भूमिकाएं प्रतिपादित की गई हैं:

(१) शुभेच्छा, (२) विचारणा, (३) तनुमानसा, (४) सत्वापत्ति, (५) असंसक्ति, (६) पदार्थभाविनी, (७) तुर्यगा।

प्रथम की सात भूमिकाएं अज्ञान की सूचक होने से अविकास काल की हैं और अन्त की सात भूमिकाएं ज्ञानमय होने से विकास काल की द्योतक हैं।

जैन दर्शन में आत्मा के उत्तरोत्तर विकास के लिए चौदह सोपानों पर प्रकाश डाला गया है। जैन दर्शन में उच्चतर भूमिका के एक-एक गुणस्थान उस महान प्रकाश की ओर जाने की सीढ़ियाँ हैं लेकिन उन गुणस्थानों को पैदा करने की बात जैन दर्शन में नहीं बतलाई गई है। अपितु यह अवश्य बताया गया है कि जिसने प्रथम सोपान रूप मिथ्यात्व को नष्ट किया उसे चोथे सोपान रूप सम्यग्दर्शन की उपलब्धि हो गई। विकार जैसे-जैसे दूर होते जाते हैं गुणस्थान की उच्चतर श्रेणी भी तदनुरूप प्राप्त होती जाती है। उदाहरण के तौर पर मान लीजिए एक बालक पढ़ने के लिए स्कूल जाता है और वह सालभर में पहली कक्षा उतीर्ण कर लेता है फिर दूसरे वर्ष, दूसरी, तीसरी इस प्रकार क्रमशः वह प्रथम कक्षा से लेकर प्रायमरी, मिडिल, हायर सेकेण्डरी, बी. ए. उत्तीर्ण करता हुवा एक दिन अंतिम कक्षा १६ वीं उत्तीर्ण कर सफलता के चरम शिखर पर पहुंच जाता है, यही स्थिति साधना के क्षेत्र में भी है। साधक अपनी साधना द्वारा चतुर्थ गुणस्थान में सम्यक् दृष्टि प्राप्त कर लेता है, पांचवे में देशव्रती और छठवें में सर्वव्रती बन जाता है। सांतवें गुणस्थान में अप्रमत होकर तेजी के साथ आगे बढ़ता हुवा तेरहवें गुणस्थान में पहुंच कर वह पूर्ण वीतराग सर्वज्ञत्व को प्राप्त कर लेता है। जैन दर्शन में साधना का यही क्रम है और साधक अपने आत्म-विकास के लिए इन चौदह गुणस्थानों के माध्यम से ही अपनी साधना में उत्तरोत्तर प्रगति कर अपने साध्य पर पहुंचता है।

यहां यह भी जिक्र कर देना प्रासंगिक होगा कि पांचवें और छठवें गुणस्थान तक ही गृहस्थधर्म और साधुधर्म की बाह्यमर्यादा से का भेद रहता है। इसके बाद नहीं क्योंकि छठवें गुणस्थान आगे के सभी गुणस्थानों में फिर साधना अन्तःप्रवाहित रहती है अतः एक रूप सी रहती है।

इसी संदर्भ में यह भी बता देना आवश्यक है कि "आध्यात्ममत परीक्षा" में १२५ वीं गाथा में लिखा है–

"तत्राद्यगुणस्थानत्रये बाह्यात्मा, ततः परं क्षीणमोह
गुणस्थानं यावदन्तरात्मा, ततः परं तु परमात्मेति"

अर्थात् प्रथम, द्वितीय और तृतीय गुणस्थान में रही हुई आत्मा बाह्यात्मा, चतुर्थ से द्वादश गुणस्थान में रही हुई आत्मा अन्तरात्मा और त्रयोदश तथा चतुर्दश गुणस्थान में रही हुई आत्मा परमात्मा कहलाती है।

इस तरह जैन दर्शन में इन चौदह गुणस्थानों के आध्यात्मिक क्रम विकास का, जो वर्णन है उसका अपना अद्वितीय महत्व है। जैन दर्शन में आत्म-विकास का सच्चा प्रारंभ चतुर्थ गुणस्थान-अविरति सम्यग्दृष्टि से होता है। चतुर्थ गुणस्थान में मिथ्यात्व का नाश होता है तो षष्ठम में अविरति का, द्वादश में कषाय का और चतुर्दश में योग निरोध होता है।

चौदहवां गुणस्थान आत्म विकास की चरम सीमा है।
यह क्रम वस्तुतः आत्मा के विकास के क्रमानुरूप है। □

सहनशीलता के बिना संयम, संयम के बिना त्याग और त्याग के बिना आत्म-विश्वास असम्भव है।

संसार में सुमेरु से ऊँचा कोई पर्वत नहीं और आकाश से विशाल कोई पदार्थ नहीं; इसी प्रकार अहिंसा से बड़ा कोई धर्म नहीं है।
––राजेन्द्र सूरि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org